

पर ही दृष्टिकोण रखा गया है। विद्वानों का कथन है कि इस शास्त्र का प्रादुर्भाव कब हुआ, वह अभी अनिश्चित है। हाँ, इसका विकास, इसके शास्त्रीय नियमों में संशोधन और परिवर्द्धन प्राचीन काल से आज तक निरन्तर होते चले आये हैं।

### भारतीय ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा और उसका क्रमिक विकास

भारतीय ज्योतिष की परिभाषा के स्कन्धत्रय—होरा, सिद्धान्त और संहिता अथवा स्कन्धपंच—होरा, सिद्धान्त, संहिता, प्रश्न और शकुन—ये अंग माने गये हैं। यदि विराट् पंचस्कन्धात्मक परिभाषा का विश्लेषण किया जाये तो आज का मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्साशास्त्र इत्यादि भी इसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस शास्त्र की परिभाषा भारतवर्ष में समय-समय पर विभिन्न रूपों में मानी जाती रही है। सुदूर प्राचीन काल में केवल ज्योतिष-पदार्थों—ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि के स्वरूप-विज्ञान को ही ज्योतिष कहा जाता था। उस समय सैद्धान्तिक गणित का बोध इस शास्त्र से नहीं होता था क्योंकि उस काल में केवल दृष्टि-पर्यवेक्षण द्वारा नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही अभिप्रेत था।

भारतीयों की जब सर्वप्रथम दृष्टि सूर्य और चन्द्रमा पर पड़ी थी, उन्होंने इनसे भयभीत होकर इन्हें दैवत्व रूप में मान लिया था। वेदों में कई जगह नक्षत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा के स्तुतिपरक मन्त्र आये हैं। निश्चय ही प्रागैतिहासिक भारतीय मानव ने इनके रहस्य से प्रभावित होकर ही इन्हें दैवत्व रूप में माना है।

ब्राह्मण और जारण्यकों के समय में यह परिभाषा और विकसित हुई तथा उस काल में नक्षत्रों की अकृति, स्वरूप, गुण एवं प्रभाव का परिज्ञान प्राप्त करना ज्योतिष माना जाने लगा। आदिकाल में नक्षत्रों के शुभाशुभ फलानुसार कार्यों का विवेचन तथा ऋतु, अयन, दिनाना, लग्न आदि के शुभाशुभानुसार विधायक कार्यों को करने का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शास्त्र की परिभाषा में परिगणित हो गया। सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, वेदांग-ज्योतिष आदि ग्रन्थों के प्रगमन तक ज्योतिष के गणित और फलित—ये दो भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। यह परिभाषा यहाँ सीमित नहीं रही, ज्ञानोन्नति के साथ-साथ विकसित हुई राशि और ग्रहों के स्वरूप, रंग, दिशा, तत्त्व, धातु इत्यादि के विवेचन भी इसके अन्तर्गत आ गये।

आदिकाल के अन्त में ज्योतिष के गणित, सिद्धान्त और फलित ये तीनों भेद स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत हो गये थे। ग्रहों की गति, स्थिति, अयनांश, पात आदि गणित ज्योतिष के अन्तर्गत तथा शुभाशुभ समय का निर्णय, विधायक, यज्ञ-यागादि कार्यों के करने के लिए समय और स्थान का निर्धारण फलित ज्योतिष का विषय माना जाता था। पूर्वमध्यकाल की अन्तिम शताब्दियों में सिद्धान्त ज्योतिष के स्वरूप में भी विकास हुआ, लेकिन खगोलीय निरीक्षण और ग्रहवेध की परिपाटी के कम हो जाने से गणित के कल्पनाजाल द्वारा ही ग्रहों के स्थानों का निश्चय करना सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत आ गया। तथा पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ में ज्योतिष का अर्थ स्कन्धत्रय—होरा, सिद्धान्त और संहिता के रूप में ग्रहण

१. ई. पू. ५००—ई. ५०० तक का समय। २. ई. ५०१—ई. १००० तक का समय

१८ : भारतीय ज्योतिष

किया गया। परन्तु इस युग के मध्य में इस परिभाषा ने और भी संशोधन देखे और आगे जाकर यह पंचरूपात्मक—होरा, गणित या सिद्धान्त, संहिता, प्रश्न और शकुन रूप हो गयी।

होरा

इसका दूसरा नाम जातकशास्त्र है। इसकी उत्पत्ति 'अहोरात्र' शब्द से है। आदि शब्द 'अ' और अन्तिम शब्द 'त्र' का लोप कर देने से होरा शब्द बनता है। जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्ति के लिए फलाफल का निरूपण इसमें किया जाता है। इस शास्त्र में जन्मकुण्डली के द्वादश भावों के फल उनमें स्थित ग्रहों की अपेक्षा तथा दृष्टि रखनेवाले ग्रहों के अनुसार विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किये जाते हैं। मानवजीवन के सुख, दुःख, इष्ट, अनिष्ट, उन्नति, अवनति, भाग्योदय आदि समस्त शुभाशुभों का वर्णन इस शास्त्र में रहता है। होरा ग्रन्थों में फल-निरूपण के दो प्रकार हैं। एक में जातक के जन्म-नक्षत्र पर से और दूसरे में जन्म-लगनादि द्वादश भावों पर से विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टिकोणों से फलकथन की प्रणाली बतायी गयी है। होराशास्त्र पर अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। समय-समय पर इस शास्त्र में अनेक संशोधन और परिवर्तन हुए हैं। इस शास्त्र के बराहमिहिर, नारचन्द्र, सिद्धसेन, दुग्धिराज, केशव आदि प्रधान रचयिता हैं। आचार्य बराह ने इस शास्त्र में एक नवीन समन्वय की प्रणाली चलायी है। नारचन्द्र ने ग्रह और राशियों के स्वरूपानुसार भाव और दृष्टि के समन्वय तथा कारक, मारक आदि ग्रहों के समन्वयों की अपेक्षा से फल-प्रतिपादन की प्रक्रिया का प्रचलन किया है। श्रीपति एवं श्रीधर आदि ९वीं, १०वीं और ११वीं शती के होरा शास्त्रकारों ने ग्रहबल, ग्रहवर्ग, विशोत्तरी आदि दशाओं के फलों को इस शास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत मान लिया है।

### गणित या सिद्धान्त

इस प्रकार होराशास्त्र की परिभाषा निरन्तर विकसित होती आ रही है। इसमें त्रुटि से लेकर कल्पकाल तक की कालगणना, सौर, चान्द्र मासों का प्रतिपादन, ग्रहगतियों का निरूपण, व्यवस्त-अव्यक्त गणित का प्रयोजन, विविध प्रश्नोत्तर-विधि, ग्रह, नक्षत्र की स्थिति, नाना प्रकार के तुरीय, नलिका इत्यादि यन्त्रों की निर्माण-विधि, दिक्, देश, कालज्ञान के अनन्यतम उपयोगी अंग, अक्षक्षेत्र-सम्बन्धी अक्षज्या, लम्बज्या, बुज्या, कुज्या, तद्घृति, समशंकु इत्यादि का आनयन रहता है। प्राचीन काल में इसकी परिभाषा केवल सिद्धान्त गणित के रूप में मानी जाती थी। आदिकाल में अंकगणित द्वारा ही अहर्गण-मान साधकर ग्रहों का आनयन करना इस शास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय था। पूर्वमध्यकाल में इसकी यह परिभाषा ज्यों की त्यों अवस्थित रही। उत्तरमध्यकाल में इसने अनेक पहलुओं के पल्लों को पकड़ा और इस युग के प्रारम्भ से वासनात्मक होती हुई भी व्यक्तगणित को अपनाती रही, इसलिए इस काल में गणित के सिद्धान्त, तन्त्र व करण तीन भेद प्रकट हुए।

जिसमें सृष्ट्यादि से इष्ट दिन पर्यन्त अहर्गण बनाकर ग्रह सिद्ध किये जायें वह

१. ई. १००१—ई. १६०० तक का समय।

प्रथम अध्याय : १९